हिन्दी जासूसी उपन्यास : इक सफ़र

कमल कुमार मिश्रा

> यह उपन्यास हिन्दी के उन असंख्य कथाप्रेमियों को सस्नेह समर्पित है जिनकी परिधि में दास्तावस्की से लेकर काफ़्का और कामू तथा जैनेन्द्र से लेकर अज्ञेय और निर्मल वर्मा जैसे विशिष्ट कृतिकारों का अस्तित्व नहीं है।
>
> श्रीलाल शुक्ल,
>
> *आदमी का ज़हर* (जासूसी उपन्यास)
>
> राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1974

प्रिंट माध्यम और 'व्यावसायिक' प्रकाशन

फ़्रन्चेस्का ओरसीनी साहित्यिक इतिहासों में दर्ज प्रिंट की 'सुधारवादी' कथा जो अकसर फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से शुरू होकर हिन्दी और उर्दू के अलग-अलग प्रिंट जुबानों के रूप में विकसित होते हुए विभाजन तक जाती है - के समानांतर प्रिंट माध्यम की एक 'व्यावसायिक' कथा बुनते हुए अनेक रोचक विवरण और महत्त्वपूर्ण तर्क पेश करती हैं। ओरसीनी व्यावसायिक-प्रकाशन के शुरुआती दौर से ही इसमें मौजूद एक ग्रहणशील प्रवृत्ति का ख़ाका खींचती हैं और यह तर्क देती हैं कि उर्दू को महज़ मुस्लिम अभिजात की भाषा मानना सरासर ग़लत होगा। ओरसीनी व्यावसायिक प्रकाशन के इस उदार चरित्र का वर्णन, उन्नीसवीं सदी के उत्तर भारतीय समाज के संदर्भ में, जो कि अब तक दृश्य और मौखिक अनुभवों के ज़रिए मनोरंजन का अभ्यस्त रहा था, प्रिंट माध्यम से अपना मनोरंजन करने की प्रक्रिया में प्रवेश को व्याख्यायित करने के लिए करती हैं।[1] उन्नीसवीं सदी के उत्तर भारत में प्रिंट माध्यम और व्यावसायिक प्रकाशन के समक्ष मौजूद दो प्रमुख चुनौतियों में से पहली अत्यंत सीमित साक्षरता और इसी से जुड़ी दूसरी प्रमुख चुनौती यह रही कि उत्तर भारतीय समाज छपे हुए पन्नों से अपना मनोरंजन करने के बजाय दृश्य और मौखिक अनुभवों के ज़रिए मनोरंजन का अभ्यस्त रहा था। याने क़िस्सा-गो, गायकों, नर्तकों, अभिनेताओं जैसे विशिष्ट व्यक्तियों या समूहों द्वारा प्रदान किए जाने वाले अनुभवों का। ओरसीनी के अनुसार इन चुनौतियों का सामना व्यावसायिक प्रकाशकों ने "टेक्स्ट्स ऑफ़ प्लेज़र" (आनंद

३५६४ Iव

सरस्वती-सिरीज़

स्थायी परामर्शदाता—डा० भगवानदास, पण्डित अमरनाथ झा, भाई परमानंद, डा० प्राणनाथ विद्यालङ्कार, श्री सत्यदेव विद्यालङ्कार, पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र, संत निहालसिंह, पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, बाबू संपूर्णानन्द, श्री बाबूराव विष्णुपराड़कर, पण्डित केदारनाथ भट्ट, ब्योहार राजेन्द्रसिंह, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्री जैनेन्द्र कुमार, बाबू वृन्दावनलाल वर्मा, सेठ गोविन्ददास, पण्डित क्षेत्रेश चटर्जी, डा० ईश्वरीप्रसाद, डा० रमाशंकर त्रिपाठी, डा० परमात्माशरण, डा० बेनीप्रसाद, डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, पण्डित रामनारायण मिश्र, श्री संतराम, पण्डित रामचन्द्र शर्मा, श्री महेशप्रसाद मौलवी फ़ाज़िल, श्री रायकृष्णदास, बाबू गोपालराम गहमरी, श्री उपेन्द्रनाथ "अश्क", डा० ताराचंद, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार, डा० गोरखप्रसाद, डा० सत्यप्रकाश वर्मा, श्री अनुकूलचन्द्र मुकर्जी, रायसाहब पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी, रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास, पण्डित सुमित्रानन्दन पंत, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पण्डित मोहनलाल महतो, श्रीमती महादेवी वर्मा, पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डा० धीरेन्द्र वर्मा, बाबू रामचन्द्र टंडन, पण्डित केशवप्रसाद मिश्र, बाबू कालिदास कपूर, इत्यादि, इत्यादि।

रहस्य-रोमांच

हंसराज की डायरी

शोध के चमत्कारपूर्ण कारनामों का

एक मनोरंजक चित्र

बाबू गोपालराम गहमरी

SHREE LAJP

के पाठ) की एक पूरी शृंखला का प्रकाशन कर के किया। इन प्रकाशित 'पाठ' ने न सिर्फ़ तमाशाइयों द्वारा प्रदान किए जाने वाले आनंद का पुनरुत्पादन किया बल्कि इसकी रोचकता में इज़ाफ़ा भी किया। रोचक नवाचारों से युक्त क़िस्सों, गानों, लोकप्रिय कविताओं (जैसे बारहमासा) और थिएटर पुस्तिकाओं ने मौखिक सस्वर पाठ, क़िस्सा सुनना, और चुपचाप या बिल्कुल चुपचाप पढ़ने जैसे उपभोग के विविध रूपों की गुंजाइश पैदा की तथा इसी प्रक्रिया में धीरे-धीरे पाठकों का परिचय छपी हुई किताबों से होता गया। इस प्रक्रिया के दौरान व्यवसायिक प्रकाशन और थिएटर का सहजीवन भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा।[2]

यह वही संदर्भ है जब जासूसी उपन्यास विधा - जिसका कोई मौखिक पूर्ववर्ती नहीं था और जिसे प्राय: एकदम चुपचाप पढ़ा जाता था - का इस उत्तर भारतीय समाज में आगमन होता है। जासूसी उपन्यास की इस विधा को न सिर्फ़ पाठकों के बीच अपार लोकप्रियता मिली बल्कि इसने हिंदी और (बाद में) उर्दू उपन्यास लेखन उद्योग को गति भी प्रदान की। व्यावसायिक-प्रकाशन के इसी रोचक, संकर और लगातार बढ़ते परिप्रेक्ष्य में जहाँ उन्नीसवीं सदी में मोल-तोल की प्रक्रिया बाक़ायदा जारी थी, आख्यान की नयी तकनीकों, मसलन-आंशिक संकेन्द्रिकता, सूचनाओं का नियंत्रित प्रवाह, सूक्ष्म विवरण और कार्य-कारण संबंध से सबसे पहले पाठकों का परिचय शुरुआती जासूसी उपन्यास लेखकों ने ही करवाया।[3]

'नॉवेल' की ही तरह 'डिटेक्टिव-नॉवेल' भी उन्नीसवीं सदी के अंत में अंग्रेज़ी से पहले बांग्ला और फिर दूसरी हिन्दुस्तानी भाषाओं में अनूदित हो कर पाठकों के सामने नमूदार होता है। डिटेक्टिव-नॉवेल की स्थापित पश्चिमी अवधारणा के उलट, इन हिंदी जासूसी उपन्यासों में जासूस द्वारा बग़ैर 'आधुनिक' तकनीकों और उपकरणों का इस्तेमाल किए मामले को हल कर देना कई बार पाठकों को हैरत में भी डाल सकता है। हिन्दी के शुरुआती जासूसी लेखक को हम बांग्ला जासूसी उपन्यासों के अनुवाद करने के साथ-साथ स्थानीय परंपराओं (मसलन अय्यार की छवि) का आंशिक प्रयोग करता हुआ पाते हैं।[4] रहस्य, रोमांच और संस्पेंस से भरे इन उपन्यासों की बिक्री के लिए छपे इश्तेहारों में इन लेखक-प्रकाशकों की व्यावसायिकता साफ़ नज़र आती है। 1910 में राम लाल वर्मा द्वारा स्थापित मासिक "हिन्दी दरोगा दफ़्तर" के इश्तेहारों में अपने पाठकों को कुछ इस अंदाज़ में लुभाने की कोशिश की गयी है:

> "क्यों जनाब!
>
> दिन भर की मेहनत से अगर आप तंग आ गये हो तो नीचे लिखे नये-नये उपन्यास खरीद कर क्यों नहीं घंटा भर तबीयत बहला लेते?
>
> निम्नलिखित उपन्यास बहुत अनूठे दिलचस्प और मजेदार हैं। इन उपन्यासों में एय्यारी, तिलस्मी, जासूसी, सामाजिक, ऐतिहासिक सभी तरह के उपन्यास हैं। इनके पढ़ने से कभी हँसते-हँसते आपका पेट फूल जायेगा तो कभी आप आश्चर्य के समुन्दर में गोते मारने लगेंगे और कभी वीरों की वीरता एय्यारों की एय्यारी देख कर आप दंग रह जायेंगे।"[5]

यह इश्तेहार प्रकाशन जगत की उस विविधता का साक्ष्य है, जहाँ पाठकों की माँग और रुचि का ध्यान रखते हुए व्यावसायिक लेखक-प्रकाशकों ने पहले से मौजूद लोकप्रिय विधाओं (जैसे-क़िस्सा, गाना, चैता, बारहमासा आदि) के साथ-साथ नवागत विधा-रूपों - मसलन रुमानी, सामाजिक, ऐतिहासिक और जासूसी उपन्यासों को अपने प्रकाशनों में स्थान दिया। साथ ही यह अन्य स्तर पर घटित हो रहे उन बदलावों का भी एक इशारा है, जहाँ एक पारंपरिक समाज के ढाँचों में हो रहे बदलावों की वजह से इस समाज के लिए श्रम (मेहनत) और मनोरंजन के मायने भी बदल रहे थे। बेशक इन बदलावों के मूल में महज़ प्रिंट ही नहीं था लेकिन इस माध्यम की भूमिका भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही। आधुनिक-औपनिवेशिक-अर्थतंत्र जहाँ "लेबर" (मेहनत) और "लेज़र" (फ़ुरसत) को एक नया स्वरूप और अर्थ दे रहा था वही प्रिंट माध्यम से गहरे जुड़े इस नए व्यावसायिक लेखक-प्रकाशक की

व्यावसायिकता का तक़ाज़ा था प्रिंट और इस नए बाज़ार तथा इसमें निहित संभावनाओं की उपेक्षा न करना।

व्यावसायिक लेखक-प्रकाशकों के तर्क

1890 के दशक में अपनी व्यावसायिकता का परिचय देते हुए मासिक उपन्यासों की शुरुआत के साथ ही लेखक-प्रकाशकों ने इनके माध्यम से न सिर्फ़ एक ज़्यादा नियमित माँग को जन्म दिया बल्कि आपूर्ति की भी गारंटी की। इन मासिक उपन्यासों की बिक्री के लिए छपे इश्तेहारों में व्यावसायिक लेखक-प्रकाशक ने 'भरपूर मनोरंजन' प्रदान करने का वायदा किया और वो भी बग़ैर अफ़सोस, 'ख़र्च पैसों की पूरी वसूली' के तौर पर। किशोरी लाल गोस्वामी द्वारा 1898 में बनारस में स्थापित मासिक "उपन्यास" का एक इश्तेहार अपने पाठकों से कुछ इस अंदाज़ में मुख़ातिब है:

"उत्तमोत्तम उपन्यास!!!

काशी के सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक श्री पंडित किशोरी लाल गोस्वामी के अत्यंत मनोहर, चित्ताकर्षक, कौतुहलवर्धक, शिक्षाप्रद, सरस और अद्वितीय उपन्यास, जिनमें कई "उपन्यास मासिक पुस्तक" द्वारा छपे हैं, अवश्य मँगा कर पढ़िये, पैसे ख़र्चने का पछतावा न होगा।"[6]

देवकी नंदन खत्री ने अपने मासिक "उपन्यास लहरी" (1894-95) की स्थापना बनारस में की तो दूसरी तरफ़ गोपाल राम गहमरी का मासिक "जासूस" भी 1900-1939 तक नियमित रूप से जासूसी उपन्यासों के, गहमर और बनारस से, प्रकाशन/उत्पादन में संलग्न रहा। बाबू जयराम दास गुप्ता द्वारा (1907 ई., बनारस में) स्थापित "उपन्यास बहार ग्रन्थमाला" ने अपने प्रत्येक अंक में अपने पाठकों को सस्ती दर पर एक संपूर्ण उपन्यास, बग़ैर किसी 'डाक-ख़र्च' और 'अग्रिम राशि' लिए उपलब्ध कराने का वायदा किया। उपन्यास ग्रन्थमाला का इश्तेहार कहता है कि:

> "यद्यपि काशी से हिन्दी भाषा में उपन्यासों की कई एक मासिक पुस्तकें निकलती हैं परन्तु प्रेमी पाठकों को उनसे बड़ी शिकायतें रहती हैं। कारण कि (1) उनमें प्राय: प्रत्येक अंक में अधूरे उपन्यास निकलते हैं और दो-तीन अंकों में कहीं जा कर पूरे होते हैं, इससे प्रेमी पाठक पहले तो नायकों के नाम इत्यादि भूल जाते हैं (2) किस्से का सिलसिला ख्याल से उतर जाता है(3) यदि याद भी रहा तो कहीं यदि बयान किसी उलझन की जगह में टूट गया तो उनको आगे के लिए जितनी बैचेनी होती होगी उसे उनका ही दिल जानता होगा (4) यदि कहीं यह सोचकर कि आगे का अंक आएगा तो फिर से पढ़ लेंगे उन्होंने इसे उठा कर रख दिया और दूसरे अंक के आते वह खो गया, तो चलिए फिर सारी उम्मीदों पर पानी फिर गया।
>
> पाठकों की इन्हीं तमाम कठिनाइयों को दूर करने और हिन्दी सहित्य के एक खाली अंग को पूरा करने के विचार से "उपन्यास ग्रन्थमाला" नाम की एक ग्रंथावली आगामी मास से निकाली जा रही है। तारीफ तो इसमें यह है कि ग्राहक होने वाले को एक पैसा भी पेशगी नहीं देना होता। सिर्फ उन्हें एक कार्ड पर ग्राहक होने की सूचना दे देनी चाहिए। जिस समय पुस्तक पूरी छप कर तैयार हो जाती है उसी समय उनकी सेवा में बिना डाकखर्च लिए वह वी.पी. द्वारा भेज दी जाती है। इससे न तो पाठकों को अपने रुपये का ही खटका रहता है और न उपन्यास के उलझन में पड़

उन्हें बेचैन होना पड़ता है ...।

चिट्ठी पत्री निम्नलिखित पते से आना चाहिए:

मैनेजर, उपन्यास ग्रन्थमाला, उपन्यास बहार ऑफिस, काशी, बनारस।"[7]

यहाँ हम उपन्यास ग्रन्थमाला के मैनेजर जयराम दास गुप्ता को पाठकों से इस आधार पर अपने उपन्यासमाला का ग्राहक बनने के लिए आग्रह करता हुआ देख सकते हैं कि दूसरे उपन्यास मासिकों जिनमें प्राय: किश्तों में उपन्यास निकलते थे, के उलट उनका प्रकाशन अपने प्रत्येक अंक में ग्राहकों को एक पूरा उपन्यास और इस तरह से कहीं ज़्यादा आनंददायक अनुभव प्रदान करता है और यह सब बिना कोई पेशगी या डाक ख़र्च लिए। यहाँ व्यावसायिक लेखक-प्रकाशक का यह कहना कि वह 'हिन्दी साहित्य के एक खाली अंग को पूरा करने के विचार से' भी ऐसा कर रहा है, भी अपने आप में कई अर्थ समेटे है। उपन्यास लेखक जो इस दौर में न सिर्फ़ प्रकाशक है बल्कि अपने मासिक उपन्यास दफ़्तरों का मैनेजर भी, की व्यवसायिकता ने उन्नीसवीं सदी के अंतिम और बीसवीं सदी के पहले दशक तक हिन्दी में एक उपन्यास लेखन-प्रकाशन उद्योग को बाक़ायदा संभव कर दिखाया था।

व्यावसायिक लेखक-प्रकाशक अपनी व्यावसायिकता के चलते लगातार आलोचकों की आलोचनाओं का निशाना रहे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालिक महत्त्वपूर्ण लेखक बालकृष्ण भट्ट ने *हिन्दी प्रदीप* (जनवरी-मार्च 1897 अंक) में छपे अपने एक लेख में देवकी नंदन खत्री के उपन्यासों की व्यवसायिक वृत्ति की जमकर आलोचना की। हिन्दी जगत में अपनी इस व्यावसायिकता के लिए इन व्यावसायिक लेखक-प्रकाशकों की खुलकर आलोचना हुई है। हालाँकि हिन्दी के एक पाठक समुदाय को आकार देने में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका को दबी ज़बान से ही सही स्वीकार किया जाता रहा है, लेकिन वह भी मनोरंजन के इन पाठों के एक 'ग़ैर-साहित्यिक' चरित्र का हवाला देते हुए।[8] इसके अलावा हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों से बात करते हुए एक सामान्य मान्यता यहाँ यह भी नज़र आती है कि *सेवा सदन* (1918) से प्रेमचंद के हिन्दी उपन्यास लेखन के क्षेत्र में पदार्पण के साथ ही पाठकों की अभिरुचियों में जो "क्रान्तिकारी" बदलाव आए उसके फलस्वरूप हिन्दी से 'बाज़ारू-साहित्य' का मानो सफ़ाया हो जाता है।[9] लेकिन हिन्दी का समस्त उपलब्ध/स्थापित मानक इतिहास यह नहीं बताता कि कैसे प्रेमचंद के साहित्यिक परिदृश्य (अथवा उपन्यास लेखन) के केन्द्र में आने के बाद भी लोकप्रिय उपन्यासों (जासूसी, सामाजिक आदि)का दौर ख़त्म नहीं होता। क्या कभी वास्तव में इन 'पाठों' के उत्पादन में कोई कमी आयी भी, और यदि ऐसा ही है तो 1950 के दशक में जासूसी साहित्य के लेखन-प्रकाशन की जो एक लहर चली और इलाहाबाद जिसका केन्द्र बना उसे हम कैसे समझ सकते हैं? मालूम हो कि पचास और साठ के दशकों में अकेले इलाहाबाद से ही कम से कम सोलह तो सिर्फ़ जासूसी मासिक निकला करते थे।[10]

"चढ़ा मंसूर सूली पर पुकारा इश्कबाज़ों को
यह उसके बाम का ज़ीना है, आए जिसका जी चाहे।"

(किशोरीलाल गोस्वामी लिखित "कटे मूड़ की दो-दो बातें वा तिलस्मी सीसमहल"

उपन्यास के कवर-पेज पर प्रकाशित मक़सूद का एक शे'र)

जासूसी उपन्यास की इस विधा को हिन्दी के आलोचकों ने शुरुआती दौर से ही नीची निगाहों से देखा। हिन्दी साहित्य के मानक-निर्माता (साहित्य-इतिहास लेखक और आलोचक) न सिर्फ़ इस लोकप्रिय विधा को हाशिए पर ढकेलने की कोशिशें करते आए हैं बल्कि अकसर वे इसे "साहित्य" का एक रूप

मानने से भी पूरे तौर पर इंकार करते हैं। मुख्यधारा का साहित्यिक-इतिहास हिन्दी में मौजूद इस अकूत जासूसी साहित्य पर कोई विशेष तवज्जोह नहीं देता।[11]

हिन्दी उपन्यास कोष भाग-2 में गोपाल राय लिखते हैं कि:

"... हिन्दी की मौलिक अपराध-प्रधान कथाओं की ऐसी सूची बना पाना संभव नहीं है जिसमें सभी पुस्तकें सम्मिलित हों ... चूँकि ये कथाएँ साहित्यिक महत्त्व की नहीं होती हैं इसलिए इनका विस्तृत विवरण और इनके मुखपृष्ठों की प्रतिलिपि ने देकर केवल इनके संबंध में संक्षिप्त सूचनाएँ ही दी जा रही हैं ...।[12]

हिन्दी उपन्यास कोष के लेखक माननीय गोपाल राय तक का रुख़ हिन्दी के 'उच्च भ्रू' आलोचकों से बहुत अलग नहीं है। नतीजन हम यह नहीं जानते हैं कि इस विधा-रूप के साथ हिन्दी साहित्य में किन-किन नए तत्वों का आगमन हुआ, या कि 'राष्ट्रवाद' के दौर में (यानी 1920-40 के दशकों में, जब उत्तर-भारतीय समाज और हिन्दी साहित्य खुद व्यापक बदलावों की प्रक्रिया से गुज़र रहे थे, क्या इस विधा-रूप को भी किसी क़िस्म की तब्दीलियों से दो-चार होना पड़ा।

ओरसीनी जिसे "टेक्सट्स ऑफ प्लेज़र" (आनंद के पाठ) कहती हैं, उनका निर्माण या उत्पादन करते हुए व्यावसायिक लेखक-प्रकाशकों ने भी अपने तर्कों की एक फ़ेहरिस्त पेश की है। इन तर्कों का विस्तार (लोकप्रिय जासूसी उपन्यासों के ज़रिए) हिन्दी की सेवा, हिन्दी का उपकार, भाषा भण्डार में बढ़ोत्तरी, साहित्य भण्डार में बढ़ोत्तरी, लोकोन्नति और मनोरंजन से लेकर लोकरुचि तक है। जासूसी लेखक-प्रकाशकों के ये रोचक तर्क न सिर्फ़ हिन्दी साहित्य की स्थापित अवधारणा, जो कि निश्चित रूप से एक नितांत 'एकरुपीय' (होमोजिनस) और 'सोपानिक' साहित्यिक अवधारणा है - पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं, बल्कि ये तर्क तमाम लोकप्रिय रूपों के 'मानक' या 'प्रामाणिक' हिन्दी साहित्यिक इतिहासों से बेदख़ली को भी समझने में हमारे लिए मददगार हो सकते हैं। हिन्दी के एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जासूसी लेखक-प्रकाशक गोपाल राम गहमरी, जो खुद को 'हिन्दी का अकिंचन सेवक' कहा करते थे, अपने उपन्यास "जासूस की बुद्धि" (दूसरा संस्करण:1931) के 'आत्म-निवेदन' में अपने (जासूसी) उपन्यासों की 'शिक्षाप्रद' भूमिका और उनमें मौजूद समाज के 'यथार्थ' चित्रण का हवाला देते हुए कहते हैं:

> "पहले पहल हमने इसे सन् 1914 में तैयार किया था। और उसी साल प्रकाशित किया। आज सत्रह वर्ष पर यह पुस्तक दोबारा प्रकाशित की जाती है।
>
> जो लोग गुण दोष की जाँच न करके ही नासमझ और पक्षपात भरे द्वेषियों की बात में आकर जासूसी पुस्तकों का नाम सुनते ही नाक भौं चढ़ा लेते हैं उनसे नम्र प्रार्थना है कि एक बार इसको पढ़ कर विचारें और देखें कि जासूस में कैसी-कैसी अनुपम शिक्षा भरी पुस्तकें निकलती हैं और समाज का कैसा उज्जवल स्पष्ट चित्र इन पुस्तकों में खींचा जाता है।
>
> हिन्दी का अकिंचन सेवक-
>
> गोपाल राम गहमर निवासी।"(13)

उपरोक्त 'भूमिका' को पढ़ते हुए सहज ही ज़हन में 1930 के दशक का हिन्दी साहित्यिक परिदृश्य आकार लेने लगता है, जहाँ लोकप्रिय जासूसी उपन्यासों को गिरी नज़र से देखने वाला इसका आलोचक भी मौजूद है और इसकी प्रतिष्ठा के लिए तर्क गढ़ता जासूसी उपन्यास लेखक-प्रकाशक भी, जो इसे स्थापित करने के अपने प्रयासों के क्रम में महज़ इन उपन्यासों की 'शिक्षाप्रद' भूमिका और इनमें मौजूद 'समाज के उज्जवल स्पष्ट चित्रों' पर ज़ोर दे रहा है। जैसा कि हम जानते हैं, हिन्दी जगत में 1920

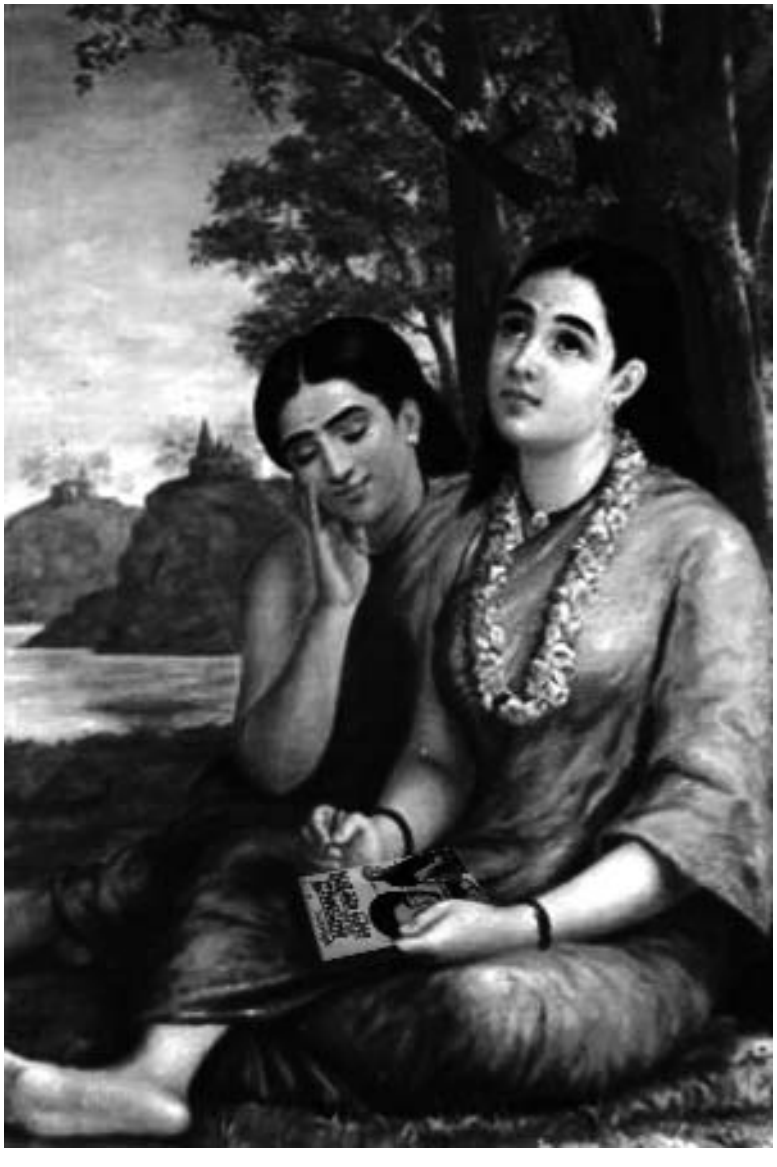

और 30 का दशक हलचलों से भरपूर रहा है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के बतौर 'प्रोजेक्ट' करने के प्रयासों में आयी तेज़ी और विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभाग की स्थापना (विशेषकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के साथ ही हिन्दी साहित्य के मानक पाठ्यक्रम निर्माण की कोशिशों के दौरान साहित्य की एक नयी अवधारणा, संस्थागत रूप में मज़बूती से सामने आती है। 'साहित्य' की इस नई अवधारणा की एक विशेषता इसका चयनात्मक होना भी है। [14]

कहने का मतलब यह हरगिज़ नहीं है कि ये सारे संरचनात्मक बदलाव हिन्दी विभागों की स्थापना के साथ एक झटके से सामने आए, बल्कि ये बदलाव तो उन व्यापक प्रक्रियाओं का सम्मिलित परिणाम थे जिनसे होकर हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया इस पूरे औपनिवेशिक दौर से गुज़र रही थी। विशेषकर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में 'नागरी प्रचारणी सभा' और दूसरी अनेक 'आधुनिक' संस्थाओं जैसे 'आर्य समाज', कलकत्ता की 'एक लिपि विस्तार परिषद्', 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन', 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' तथा हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य से जुड़ी बहसों में शामिल विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं की इस सार्वजनिक दुनिया में स्थापना और इनकी गतिविधियों का योगदान उल्लेखनीय है। किंतु हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया में 'साहित्य' की इस नयी चयनात्मक अवधारणा के संस्थाबद्ध होने में सर्वाधिक निर्णायक भूमिका अदा की विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभागों द्वारा 'साहित्य' के मानकीकरण, समीक्षा और 'प्रामाणिक' साहित्यिक इतिहास को नियमित पाठ्यक्रमों ने।[15] साथ ही लोकप्रिय जासूसी साहित्य के लेखक-प्रकाशकों के समक्ष अब एक अत्यंत आवश्यक कार्यभार इस लोकप्रिय विधा - जासूसी उपन्यास और इसकी मौजूदा भूमिका को इस बदलते संदर्भ के अनुरूप पुनर्परिभाषित करना था।

जहाँ तक हिन्दी और उर्दू जगत का सवाल है 'पॉप्युलर' या 'बेस्ट सेलर' को ले कर एक असहजता यहाँ कोई नयी बात नहीं है। यक़ीनन इस असहजता की वजहें कई एक हो सकती हैं और यह भी कुछ ग़ैरमुमकिन नहीं कि ये वजहें संदर्भों के साथ-साथ बदलती रही हों। मिसाल के तौर पर उर्दू के पहले बेस्ट सेलर *मिरात उल-उरूस*, जिसे सर सैय्यद अहमद ख़ाँ के एक निकटवर्ती सहयोगी, डिप्टी नज़ीर अहमद ने 1860 में लिखा था, को भी देखा जा सकता है। नज़ीर अहमद द्वारा एक सुधारवादी नज़रिए से ब्याहता महिलाओं की शिक्षा और मनोरंजन के लिए लिखे गए एक लतीफ़ क़िस्से, *मिरात उल-उरूस* को विख्यात मुस्लिम विद्वान मौलाना अशरफ़ थानवी ने महिलाओं के लिए नुक़सानदेह चार किताबों की अपनी सूची में डाल दिया था। विवाहित महिलाओं या इसी पाठक वर्ग को केन्द्रित करते हुए लिखी गयी मौलाना अशरफ़ थानवी की अपनी "बहिश्ते ज़ेवर" को उतनी लोकप्रियता नहीं नसीब हुई जितनी *मिरात उल-उरूस* को। 1869 में पहली बार प्रकाशित मिरात के बीस संस्करणों की एक लाख से भी ज़्यादा प्रतियाँ बिकीं, अनेकों भाषाओं में इसके अनुवाद छपे और 1870 में पश्चिमोत्तर प्रांत की सरकार ने इस किताब को महिलाओं की शिक्षा के लिए उपयुक्त मान कर इसे एक हज़ार रुपए का पुरस्कार मय किताब की दो हज़ार कॉपियों की सरकार द्वारा सीधी ख़रीद के साथ नवाज़ा। सरकार ने इस किताब को पाठ्यक्रम में शामिल किए जाने की भी अनुशंसा की। मालूम हो कि पश्चिमोत्तर प्रांत की सरकार ने 1868 में 1000/रु. का नक़द इनाम ऐसी किताबों को देने की घोषणा की "जो किताब किसी महत्तवपूर्ण उद्देश्य से लिखी गयी हो, चाहे निर्देश, मनोरंजन या ... उर्दू या हिन्दी में से किसी भी मौजूदा बोली में लिखी यह किताब शैली और वर्णन दोनो ही लिहाज़ से बेजोड़ हो।"[16] औपनिवेशिक सरकार की घोषणा के अनुसार हिन्दुस्तानी महिलाओं के लिहाज़ से उपयुक्त किताबें विशेष रूप से स्वीकारणीय होंगी और पुरस्कृत की जाएँगी। सी एम नईम का यह मानना है कि मौलाना थानवी द्वारा *मिरात उल-उरूस* की निन्दा किए जाने की एक मुमकिन वजह यह भी हो सकती है कि इस किताब के केन्द्रीय पात्र असगरी का क़द इसके आसपास मौजूद पुरुषों के कद से ऊँचा जान पड़ता है।[17]

नवागत विधा, विशेषकर उपन्यास और इसके प्रभाव को लेकर एक असहजता, 'हिंदी' सार्वजनिक

दुनिया में स्वयं को पहली बार उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में देवकी नंदन खत्री के उपन्यासों की ज़बरदस्त लोकप्रियता के साथ ही, इस पर हुई बहसों के रूप में प्रकट करती है।[18] उपन्यास विधा की इस अभूतपूर्व व्यावसायिक सफलता ने हिन्दी जगत में इस सच्चाई को भी उजागर कर दिया था कि प्रिंट माध्यम ने लेखक के लिए रजवाड़ों, रईसों और ब्रिटिश सरकार (का शिक्षा विभाग) जैसे साहित्य के पूर्ववर्ती संरक्षकों के समानांतर ही बाज़ार जैसे एक सशक्त संरक्षक का दरवाज़ा भी खोल दिया है। लेकिन उपन्यास को लंबे समय तक एक साहित्य-रूप के तौर पर पूरी तरह से स्वीकार न किए जाने की वजहें क्या हो सकती हैं? क्या ऐसा इसके पश्चिमी मूल के चलते था? या फिर आनंद के इन 'पाठों' के विरोध में एक सुधारवादी आग्रह के चलते? बेशक उपन्यास विधा को लेकर हिन्दी के मूर्धन्य विद्वानों की असहजता और संशय की वजहें इसका पश्चिम से आगमन भर नहीं थीं क्योंकि दूसरी देशज साहित्यिक विधाओं, मसलन कविता के कुछ रूपों को भी इस दौर में एक ख़ास क़िस्म की आलोचना का निशाना बनना पड़ा। ब्रज भाषा की रीति कविता और छायावादी कविता को भी इस दौर की समीक्षा ने बख़्शा हो, ऐसा नहीं है। इतना ही नहीं, भाषागत विविधता (विभिन्न बोलियों और लिपियों) पर भी इस दौर में एक नयी भाषा-लिपि (खड़ी बोली हिन्दी और देवनागरी लिपि) को तरजीह दी गयी। उर्दू-फ़ारसी शब्दों के व्यवहार को हतोत्साहित करते हुए एक नीरस, बोझिल, पंडिताऊ संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में 'प्रोजेक्ट' करने के प्रयास हुए।[19] कलकत्ता में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तीसरे अधिवेशन (1912 ई.) जिसके सभापति बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन' थे, विष्णु चंद शर्मा का एक लेख "हिन्दी का हानिकर साहित्य" भी पढ़ा गया। इस लेख में विष्णु चंद शर्मा उपन्यास-साहित्य से होने वाली हानियों का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि:

> "पहली हानि यह होती है कि येशृंगार रस के अधिक होते हैं और इनके पढ़ने से पाठकों के हृदय में कुवासना उत्पन्न हो वे इश्क की उपासना करने लगते हैं, जिससे थोड़े ही दिनों में वे बल, नैरोग्य, उत्साह, धैर्य, चरित्र और धन से जीवन-मुक्त हो जाते हैं। दूसरी हानि यह है कि उनके पढ़ने से ऐहिक व पारलौकिक कार्यो में कुछ भी फलसिद्धि नहीं होती और तीसरी हानि मन और बुद्धि का सुखियापन है।"[20]

'मन और बुद्धि के सुखियापन से' लेखक-समीक्षक का मतलब यहाँ गंभीर और शास्त्रीय विषयों को भविष्य में पढ़ पाने की क्षमता के ह्रास से है। वैसे इस लेख में प्रकट विचारों का चंपा लाल जौहरी 'सुधाकर' ने "हिन्दी साहित्य में डकैती" शीर्षक अपने लेख (इंदु सितंबर, 1914 अंक, काशी से प्रकाशित) में प्रतिवाद भी किया, लेकिन यहाँ ग़ौर करने की बात तो वह समानता है जो शृंगार रस प्रधान ब्रज भाषा की कविता और शृंगार रस के चित्रण-आधिक्य के चलते उपन्यास विधा, दोनों को ही पूरी तरह से ख़ारिज करने की वकालत करती है, क्योंकि नवयुवकों के लिए यह 'इश्क की उपासना' से विमुख रह कर 'भाषा', 'जाति' और 'राष्ट्र' की उन्नति में योगदान देने का समय है तथा लेखकों और नवयुवकों के लिए ऐसे दौर में मनोरंजन के 'पाठों' से 'तबीयत बहलाना' काल-धर्म नहीं माना जा सकता। हिन्दी के विख्यात उपन्यासकार प्रेमचंद को संभवत: ऐसी ही समीक्षाओं के दबाव में यह भी लिखना पड़ा होगा कि: "यह भी मानना पड़ेगा कि गत शताब्दियों में पाश्चात्य देशों में जितने सुधार हुए हैं उनमें अधिकांश का बीजारोपण उपन्यासों द्वारा ही किया गया है।"[21]

हम यहाँ प्रेमचंद को उपन्यास विधा की समाज सुधार में अदा की गयी भूमिका का हवाला देते हुए देख सकते है। इस नवागत विधा की लोकप्रियता और उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों से व्यावसायिक लेखक-प्रकाशकों द्वारा इसके सफल व्यावसायिक प्रयोग ने इस सशक्त विधा की संभावनाओं पर विचार करने के लिए एक ज़मीन दी। ऐसा नहीं था कि प्रेमचंद ने ही पहली बार इस विधा के 'सुधार का बीजारोपण' करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका को पहचाना हो। उनसे पहले भी हिन्दी में कई लेखक इस दिशा में प्रयोग कर चुके थे। फिर भी 'साहित्य' की चयनात्मक अवधारणा के एक संस्थागत रूप में अवस्थिति

की प्रक्रिया के संपन्न होने तक विविधता के लिए जितनी गुंजाइश इस सार्वजनिक दुनिया में हो सकती थी, वह यहाँ मौजूद दिखती है। यही वजह है कि मासिक *शारदा* के संपादक आचार्य चतुरसेन शास्त्री (दिसंबर 1916 में) सम्मेलन पत्रिका के लिए लिखे "राष्ट्रभाषा और संस्कृतियाँ" शीर्षक अपने लेख में राष्ट्रभाषा के रूप में माँ सरस्वती की वंदना करने वालों में ग़रीब-अमीर, कम और ज़्यादा पढ़े के बीच फ़र्क़ करने से इंकार करते हुए कहते हैं कि "हर कोई इस मंदिर में अपने-अपने चढ़ावे के साथ प्रवेश कर सकता है चाहे वह किसी भी मज़हब का क्यों न हो।"[22] हम जानते हैं कि ऐसे आह्वानों का परिणाम कैसे उत्तरोत्तर एक हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान रूपी पहचान के मजबूत होते जाने के रूप में सामने आता है।[23] लेकिन साहित्य के बदलते मायनों के साथ इस दौर तक आते-आते साहित्य का उद्देश्य वह नहीं रहने वाला था जो किसी पूर्ववर्ती दौर में रहा आया होगा मसलन, ख़ास-ओ-आम का साहित्य (दरबारी या आम जन का) जो प्राय: विशुद्ध मनोरंजन के उद्देश्य से रचा जाता रहा था। राष्ट्रवाद के इस दौर में अब 'साहित्य' को इसकी 'सामाजिक' भूमिका का निर्वहन करना था। इस नयी भूमिका के लिए न सिर्फ़ साहित्य और रचना-कर्म को एक विशेष आदर्शात्मक और आलोचनात्मक रुख़ के साथ पुनर्परिभाषित किए जाने की आवश्यकता थी, बल्कि पाठकों पर भी लगाम कसने की ज़रूरत थी, जिसके लिए आलोचना के पूर्व स्थापित प्रतिमानों के बजाय एक नयी (साहित्यिक कम-ज़्यादा व्यावहारिक) 'सामाजिक-आलोचना' को आकार दिए जाने की आवश्यकता थी और इस व्यवहारिक आलोचना को आकार दे रहा 1920 के दशक का 'आलोचक' 'हिन्दी के सेवकों' के साथ कैसी भी रियायत बरतने को तैयार नहीं दिखता। इतना ही नहीं वह पाठकों से भी रुचियों में भेदाभेद करते हुए एक 'सम्मिलित समालोचना' की अपील करता है।

1929 में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित अपने निबंधों ओर समीक्षाओं के संकलन "साहित्य समालोचना" में कालिदास कपूर कुछ ऐसा ही करते नज़र आते है। कपूर का मानना है कि अभी तक हिन्दी संपादकों का रुख़ हिन्दी में लिखी गयी किसी भी रचना को हिन्दी साहित्य का 'विस्तार' कहते हुए इसके स्वागत का रहा है जिसके चलते समीक्षा करने का मतलब कमोबेश प्रचार करना बन गया है। जब कि इंग्लैण्ड का पेशेवर समीक्षक-आलोचक इसके विपरीत कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित दिखता है और 'उसकी आलोचना पर ही जनता अपनी राय क़ायम करती है'। कपूर कहते हैं कि, "हिन्दी में भी अब वह समय आ गया है कि प्रतिष्ठित साहित्य सेवी और विशेषज्ञ विद्वान ऐसा ही निर्णय दें और हानिकर पुस्तकों पर अपना 'तीसरा नेत्र' खोलें। उनको इसके चलते 'असंतुष्ट लेखकों' और 'लोगों के मतभेदों' का सामना करना पड़ेगा, किंतु यही एक आलोचक का कालधर्म है।"[24] एक सामाजिक कार्य के रूप में साहित्य की नयी अवधारणा के अनुरूप आलोचना की दिशा में भी अपेक्षित परिवर्तन और इंग्लैण्ड के पेशेवर समीक्षक-आलोचकों की तर्ज़ पर हिन्दी में भी आलोचक की एक पेशेवर छवि की आवश्यकता पर ज़ोर देने के बाद कपूर पाठकों की तरफ़ मुड़ते है। वह पाठकों से भेद करने का आग्रह करते हुए कहते हैं कि अंततोगत्वा, साहित्यिक अभिरुचि किसी भी समाज की सामाजिक परिस्थितियों को निर्धारित करने का एक माध्यम है, और हमारे बाद की पीढ़ियाँ हमारी सामाजिक परिस्थितियों का मूल्यांकन उसी रूप मे करेंगी।[25]

यहाँ हम यह देख सकते हैं कि 'हानिकर पुस्तकों' से पाठकों की रक्षा और पाठकों की रुचियों में परिवर्तन की व्यावहारिक आलोचना द्वारा की जा रही इन कोशिशों के पीछे कई एक शक्तियाँ और पुरस्कार, सम्मान, आलोचना आदि 'सत्ता' के अनेक रूप कार्य कर रहे हैं। यह भी सच है कि 'साहित्य', 'भाषा' और राष्ट्र के नाम पर (कहीं न कहीं अब भी जारी) इस राजनीति का निशाना सिर्फ़ और सिर्फ़ पाठकों की रुचि का 'आकांक्षित रोचक साहित्य' या इसके उत्पादन से जुड़ा व्यावसायिक लेखक-प्रकाशक भर नहीं बनता (!) इसके प्रभाव बेशक कहीं ज़्यादा गहरे और मारक हैं। लेकिन 'साहित्य' की इस संकुचित अवधारणा का एक प्रभाव तो यह पड़ता ही है कि अब न सिर्फ़ कई एक साहित्य रूपों को

अपनी रामकहानी

(जासूस की भयङ्कर आत्मकथा)

बाबू गोपालराम गहमर निवासी सम्पादित ।

(जासूस मासिक पत्र से उद्धृत ।)

All rights reserved.

मैनेजर पं० आत्माराम शर्मा द्वारा—
जार्ज प्रिंटिंग वर्क्स, कालभैरव, काशी में मुद्रित ।

जासूस आफ़िस गहमर से प्रकाशित ।

प्रथम बार
१५०० प्रति

मूल्य १)

☞ मिलने का पता—मैनेजर जासूस [illegible]

एक तरफ़ बाज़ार की शक्तियों से टकराते और दूसरी तरफ़ साहित्य-जगत का बहिष्कार झेलते हुए स्वयं को विकसित करना पड़ता है, बल्कि साहित्य-आलोचना के नए-नए औज़ारों का विकास भी इसके चलते अप्रभावित हुए बिना नहीं रहता। लेकिन क्या बदलाव की इस पूरी प्रक्रिया के दौरान मनोरंजन के इन 'पाठों' (यहाँ जासूसी उपन्यासों) का निर्माता हमारा व्यावसायिक लेखक-प्रकाशक चुप्पी साधे बैठा रहा? नहीं बिल्कुल नहीं। उसने भी इन हमलों के जवाब में अपने तर्क गढ़े, ख़ुद को हाशिए पर धकेले जाने की कोशिशों के ख़िलाफ़ प्रतिवाद किया और लोकप्रिय जासूसी साहित्य को एक साहित्य रूप के तौर पर मान्यता दिलाने की हरचंद कोशिश की। आइए देखें कि इस प्रक्रिया में मनोरंजन के ये 'पाठ' कैसे एक व्यापक 'विमर्श' का हिस्सा भी बनते हैं।

जासूसी साहित्यः प्रयोजन और पाठक, चन्द सवाल

"जासूसी कहानियाँ" (इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध लेखक सर आर्थर कॉनन डॉयल की तीन रहस्यपूर्ण कहानियों का अविकल अनुवाद) जो 'साहित्य मण्डल', दिल्ली से पहली बार 1932 में प्रकाशित हुई के अनुवादक श्रीयुत् सुकुमार चट्टोपाध्याय इस पुस्तक की अपनी लंबी 'प्रस्तावना' में लिखते हैं कि भारत में जासूसी कहानियों का प्रारंभ सबसे पहले प्रियनाथ मुखोपाध्याय ने बांग्ला में किया। 'दरोगा दफ्तर' के नाम से जिस मासिक पत्रिका का प्रकाशन उन्होने किया, वह बाद में पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुई। उन दिनों प्रायः सभी प्रकार की रुचि के लोग उसे बड़े चाव से पढ़ते थे। इसके बाद चट्टोपाध्याय पाँचकौड़ी दे के योगदान का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि, "उनके 'मायावी' उपन्यास को हमने सिनेमा के उपयुक्त बनाकर कलकत्ते की 'इण्डियन फिल्म प्रोड्यूसिंग कम्पनी' में छाया-चित्र के रूप में परिणत करना प्रारम्भ किया था, परन्तु कुछ सज्जनों की दया से दुर्भाग्यवश वह कम्पनी फ़ेल हो जाने से यह प्रयास अधूरा ही रह गया।"[26] सुकुमार चट्टोपाध्याय की यह भूमिका कई महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से हमें अवगत कराती है, मसलन उनका यह कहना कि 'उन दिनों (उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में) प्रायः सभी प्रकार की रुचि के लोग उसे बड़े चाव से पढ़ते थे', उस बदलते परिदृश्य का भी इशारा है जहाँ सामाजिक/साहित्यिक 'सुधार' की कोशिशों के चलते 1930 के दशक तक आते-आते, जब वे यह भूमिका लिख रहे हैं, परिदृश्य काफ़ी कुछ बदल चुका है।[27] मनोरंजन के नए-नए माध्यमों (मसलन फ़िल्मों) के आगमन के साथ कैसे ये 'पाठ' अपना रूप-परिवर्तन किया करते हैं, इस पर भी चट्टोपाध्याय की यह भूमिका ख़ूब रोशनी डालती है। लेकिन इस बहस के संदर्भ में भूमिका का सबसे रोचक अंश वह है जहाँ सुकुमार चट्टोपाध्याय अंग्रेज़ी में 'डिटेक्टिव फ़िक्शन' की शुरुआत के पीछे एक भारतीय प्रेरणा की तलाश कर डालते है। सुकुमार लिखते हैं किः

> "अंग्रेजी में जासूसी उपन्यासों की प्रथा अमेरिकन लेखक स्वर्गीय एडगर एलन पो ने प्रचलित की। पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा, कि उक्त लेखक महोदय ने 'जासूसी कहानी' का आभास एक भारतीय कहानी से पाया, जो भारतीय गणित और वैद्यक शास्त्रों के साथ अरबी और फारसी में अनुवादित होकर यूरोप तक पहुँच गयी थी। वह कहानी है ऊँट और चार फकीरों की। राजा के सिपाही जब राज्य की पशुशाला से खोए हुए ऊँट का पता लगाते हुए जंगल में पहुँचे, तो चार फकीरों से उन्होनें उसका पता पूछा। फकीरों ने किन-किन चिह्नों के आधार पर ऊँट का परिचय जाना, और अंत में किस प्रकार शीघ्र ही ऊँट का पता लग गया - यह कहानी आज भारत के बच्चों की पाठ्य पुस्तकों में पढ़ाई जाती है।"[28]

इस तरह जासूसी कहानियों की शुरुआत के पीछे एक 'भारतीय' प्रेरणा का अस्तित्व साबित करने के बाद चट्टोपाध्याय 'शरलक होम्ज' की कहानियों का लोगों के (संसार भर में) जीवन पर पड़े

क्रियात्मक प्रभाव का ज़िक्र करते हुए अपने इस अनुवाद की 'सामाजिक' भूमिका कुछ इस तरह से सिद्ध करते हैं:

> "भारतीय भाषाओं में प्राय: सभी जासूसी कहानियाँ विदेशी कहानियों की नकल या उनके आधार पर लिखी गई हैं। इनमें प्राय: वेश-परिवर्तन चातुरी, या शारीरिक शक्ति के अतिरिक्त तर्कना-शक्ति अथवा गम्भीर विश्लेषण का सर्वथा अभाव है, इसीलिए इनसे कुछ समय के लिए मनोरंजन हो जाने के अतिरिक्त कोई विशेष लाभ नहीं होता, और न मनुष्य के व्यवहारिक जीवन में कोई स्पष्ट लाभ दिखाई देता है।
>
> कानन डोयल महोदय की कृतियाँ अभी तक हिन्दी में नहीं आयीं। हमारा विश्वास है, हिन्दी के पाठक चकित हो कर उनकी रचनाओं का स्वागत करेंगें, क्योंकि इन्हें वे अपने दैनिक जीवन में लाभकारी पाएँगे, और इनकी सहायता से उनकी विश्लेषण-बुद्धि का विकास होगा।
>
> -अनुवादक।"[29]

यहाँ अनुवादक एक 'विदेशी' भाषा से अपने अनुवाद को जायज़ ठहराने के लिए न सिर्फ़ अंग्रेज़ी में जासूसी उपन्यास विधा की उत्पत्ति के पीछे एक 'भारतीय' प्रेरणा की तलाश करता है, बल्कि इस उपन्यास रूप के अंग्रेज़ी में एक सफल, लेकिन हिन्दी पाठकों को अनुपलब्ध, लेखक का अनुवाद भी वह महज़ पाठकों के क्षणिक मनोरंजन के उद्देश्य से न करके, उनकी तर्कणा-शक्ति के विकास का घोषित उद्देश्य सामने रख कर ऐसा करता है। स्पष्ट है कि जासूसी कहानियों के इस अनुवादक का ज़ोर यहाँ मनोरंजन पर उतना नहीं है, जितना कि इसके लाभकारी क्रियात्मक प्रभाव पर। 'साहित्य-मण्डल-माला' की इस चौदहवीं पुस्तक का मूल्य एक रुपया है। लेकिन 1930 के दशक में हिन्दी के जासूसी प्रकाशक-लेखक/अनुवादकों के बीच जासूसी उपन्यासों के किसी एक 'प्रयोजनीय उद्देश्य' को ले कर कोई आम राय बनती नज़र नहीं आती। सोमेश्वर सिंह यादव 1933 में प्रकाशित पंडित रमा शंकर पाण्डेय 'विकल' लिखित "चन्द्रिका या हीरे का हार: एक जासूसी उपन्यास" (के दूसरे संस्करण) की अपनी 'भूमिका' में लिखते हैं कि :

> "आज कल हिन्दी में भी जासूसी उपन्यासों की खूब माँग है। लोग अपनी गाँठ का सैकड़ों रुपया खर्च कर उन्हें मँगाते और शौक से पढ़ते हैं, यह हिन्दी का सौभाग्य है। अच्छा इसी बहाने हिन्दी का प्रचार हो। जासूसी उपन्यास कोरे मनोरंजन के लिए नहीं लिखे जाते वरन् उनके गर्भ में एक प्रयोजनीय उद्देश्य छिपा रहता है, जिसके ज़रिए से लोग सुगमता से ही संसार के अच्छे बुरे लोगों की पहचान करने में समर्थ हो जाते हैं ... आगे हिन्दी का सौभाग्य जाने।"[30]

हमारे इस 'भूमिका' लेखक के अनुसार जासूसी उपन्यासों का 'प्रयोजनीय उद्देश्य' पाठकों को अच्छे और बुरे लोगों की पहचान करने में समर्थ बनाना है और अगर इसी ज़रिए से हिन्दी का प्रचार भी हो तो लेखक इसे हिन्दी के लिए सौभाग्य की बात मानता है। पुस्तक के इस दूसरे संस्करण का मूल्य पच्चीस पैसे और इस संस्करण की कुल एक हज़ार प्रतियाँ छापे जाने का ज़िक्र भी इसी पुस्तक में मिलता है।[31] इसके अलावा 'भूमिका' लेखक खुद भी हिन्दी पाठकों के बीच जासूसी साहित्य की एक निरंतर बढ़ती लोकप्रियता की पुष्टि करता है। जासूसी उपन्यासों की पाठकों के बीच अपार लोकप्रियता और इनकी ज़बरदस्त माँग ने 30 के दशक तक आते-आते प्रकाशकों की बाक़ायदा एक ऐसी जमात भी तैयार कर दी थी जो 'अनूदित' मालाओं के रूप में अंग्रेज़ी सहित दूसरी भाषाओं में लिखी गयी जासूसी कहानियों का सीधा अनुवाद या मामूली-से रद्दोबदल के साथ इनके रुपातंरण ही छापा करते। बनारस से "लक्ष्मी पुस्तकालय" प्रकाशन ने 1933 ई. में अपनी 'चार आना माला' प्रकाशित की। इस

शृंखला में हर महीने "जासूस-सम्राट" रॉबर्ट ब्लेक का एक 'रोमांचकारी भेद-भरा जासूसी उपन्यास' प्रकाशित होता था। 25 पैसे मूल्य वाली इस "चार आना माला" के प्रकाशकों ने दावा किया कि- 'इतने सस्ते, सुन्दर और रहस्यमय जासूसी उपन्यास आपको हिन्दी में और कहीं न मिलेंगे'।[32] हम देख सकते हैं कि 1930 के दशक में छपने वाले इन लोकप्रिय जासूसी उपन्यासों की क़ीमत आम तौर पर पच्चीस पैसे से लेकर एक रुपए तक हुआ करती थी। क़ीमतों में फ़र्क़ के अलावा नियमित जासूसी-मासिकों के प्रकाशकों का ज़ोर 'स्थायी ग्राहक' बनाने पर ज़्यादा दिखता है, जबकि "रेलवे सीरीज" का प्रकाशक स्थायी ग्राहक बनाने की कोशिशों के साथ-साथ अपने उपन्यासों को 'रेल के सफर में पढ़ने योग्य उत्तम' बताता है।[33] "हिन्दी पुस्तकालय", मथुरा ने भी ऐसी ही एक अनुवादित माला का प्रकाशन 1935 में किया। इसी अनुवादित माला के पहले उपन्यास "भीषण रहस्य उर्फ़ नक़ली हत्यारा" के लिए लिखे गए अपने 'संपादकीय वक्तव्य' में इस अनुवादित माला के संपादक मुकुन्द काफ़ी विस्तार से लोकप्रिय उपन्यासों (ख़ासकर जासूसी) के पक्ष में अपनी दलील पेश करते हैं। मुकुन्द का कहना है कि:

> "... हमारे यहाँ जासूसी ढंग के मौलिक उपन्यास लिखने वाले सिद्धहस्त लेखक हैं ही नहीं। एक तरह से यह भाषा का दुर्भाग्य है। हम अगर जनता कि रुचि का आकांक्षित रोचक साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में उपस्थित नहीं कर सके तो यह हमारे लिए एक लज्जा की बात है। ... जासूसी उपन्यासों में अद्भुत रस का अद्भुत सम्मिश्रण होता है। आश्चर्य, सनसनी, उद्वेग और उत्सुकता की सफल योजना होती है। पग-पग पर आशा और निराशा का नीरव नृत्य होता है। पाठक कभी भय से स्तब्ध रह जाता है, कभी विस्मय से पराभूत। उसका हृदय कमल कभी हर्ष से उन्मत्त हो उठता है, कभी शोक से कातर। घृणा, रोष, नैराश्य और क्षोभ उसके हृदय को आन्दोलित कर डालते हैं। एक बात उसके अनुमान के अनुसार होती है, किंतु क्षण भर बाद ही दूसरी घटना उसकी कोमल कल्पना पर मार्मिक आघात करती है और उसे खण्ड-खण्ड कर डालती है, वह आतुर हो जाता है और विस्मय के साथ आगे बढ़ता है। उसके हृदय में एक अज्ञात वेदना का मधुर स्पर्श होता है, वास्तव में यही कला का कोमल और सजीव अंग है।
>
> फिर जिस मौलिक रचना में इन सब का सफल आयोजन होगा, उसे साहित्य मर्मज्ञ नीरस, नीरुपयोगी और समय नष्ट करने वाली कैसे कह सकते हैं? उसमें सरल और सजीव भाषा का प्रयोग और होना चाहिए किसी खास पक्ष या आदर्श की पुष्टि हो या न हो। जनता अवश्य उसका यथोचित सत्कार करेगी। इसके विपरीत विचार करना विचार शून्यता है।"[34]

यहाँ हम संपादक को भाषा- गौरव या प्रतिष्ठा, लोकरुचि, रचनाधर्मिता और रस निष्पत्ति के आधार पर बहुत ख़ूबसूरती और उतनी ही मज़बूती के साथ जासूसी उपन्यासों को एक कला या साहित्य रूप के तौर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता हुआ देख सकते हैं। जासूसी उपन्यासों के लिए मुकुन्द का तर्क है कि इनमें सरल और सजीव भाषा का प्रयोग होना चाहिए भले ही किसी आदर्श विशेष की पुष्टि इनसे होती हो। सरल और सजीव भाषा के प्रयोग पर संपादक का इस क़दर ज़ोर देना बेवजह नहीं है। लोकप्रिय उपन्यासों की भाषा यक़ीनन उनकी सबसे बड़ी ताक़त रही है। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी से कोसों दूर एक आमफ़हम और मिली हुई ज़बान में लिखे जाने वाले ये उपन्यास अपनी भाषा के ही दम पर पाठकों के बीच प्रतिष्ठित रहे हैं। एकाधिक संस्करणों में हज़ारों की संख्या में छपने और बिकने वाले जासूसी उपन्यासों ने पाठकों का मनोरंजन करने के साथ ही साथ तमाम नयी चीज़ों से उनका परिचय भी एक उदार भाषा के ज़रिए ही करवाया।[35] गोपाल राम गहमरी अगर क्षेत्रीय बोलियों का जहाँ-तहाँ प्रयोग कर एक करिश्माई गद्य रच रहे थे तो देवकी नंदन खत्री से लेकर बाद के दूसरे तमाम जासूसी लेखक उर्दू

मिश्रित हिन्दी का प्रयोग अपने लेखन में करते नज़र आते हैं। जासूसी उपन्यासों के पाठक की एक अत्यंत संवेदनशील, जिज्ञासु, रसलोलुप और कल्पनाशील छवि का जैसा आभास हमें मुकुन्द के उपरोक्त वर्णन से मिलता है क्या इसके बाद भी आप यक़ीन के साथ कह सकते हैं कि 'हाई' और 'लो' साहित्य के पाठक जैसा कोई 'वॉटर-टाइट' भेद पाठकों के मद्देनज़र किया जा सकता है? जनाब राजेन्द्र यादव, शम्सुर्रहमान फ़ारूकी और नीलाभ जैसे दिग्गजों की स्वीकारोक्तियाँ भी तो ऐसे किसी 'वॉटर-टाइट' भेद को तहस-नहस करती हुई ही मालूम पड़ती हैं। तब क्या यह कहा जा सकता है कि 'साहित्य' की एक चयनात्मक अवधारणा के बाक़ायदा एक केन्द्रीय विमर्श के तौर पर क्रमशः स्थापित होते जाने के बावजूद पाठकों की रुचियों में ऐसा कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नज़र नहीं आता है जिसके आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके कि 'हाई' और 'लो' साहित्य के पाठकों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा है।

शायद हममें से कइयों को यह जानकर हैरत होगी कि लोकप्रिय उपन्यासों के पाठक ही नहीं लेखकों तक के मामले में ऐसा कोई सतही या सरलीकृत भेद नहीं करता है। या कहें कि लोकप्रिय उपन्यास जगत का एक दूसरा बड़ा योगदान हिन्दी और उर्दू अदब के कई धुरँधर लेखकों को भी तैयार करने में रहा है। इलाहाबाद से 1950 के दशक की शुरुआत से निकलने वाली *जासूसी दुनिया* ने अगर उर्दू अदब को इब्ने सफ़ी जैसा अफ़सानानिगार दिया है तो इसी प्रकाशन से छपनेवाली *रूमानी दुनिया* के लिए लोकप्रिय सामाजिक उपन्यास लिखते हुए राही मासूम रज़ा जैसे लेखक ने भी अपने लेखकीय कैरियर की शुरुआत की। राही मासूम रज़ा लंबे समय तक आफ़ाक हैदर और शाहिद अख़्तर के नाम से 'नकहत प्रकाशन' इलाहाबाद के लिए पॉप्युलर नॉवल लिखते रहे। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के उनके छात्र जीवन से शुरू होकर बहुत बाद तक इस प्रकाशन के लिए हर महीने एक या दो नॉवल लिखना क्या राही के लिए सिर्फ़ जीविका-अर्जन का साधन मात्र ही कहा जा सकता है। अंत में, किसी जासूसी उपन्यास लेखक-प्रकाशक का यह कहना कि -'इसी जासूसी साहित्य ने अश्लील साहित्य की क़ब्र तैयार की थी। यदि जासूसी साहित्य हिन्दी में न आया होता तो आज भी हर ओर अश्लील पुस्तकें छपती होतीं। आज भी छपती हैं लेकिन बहुत कम', हमारे लिए अश्लील/जासूसी/साहित्य जैसी श्रेणियों पर एक बार फिर से सोचने का सुराग़ क्यों नहीं हो सकता?

संदर्भ और नोट्सः

1 ओरसीनी, फ़्रंचेस्का, 'प्रिंट ऐंड प्लेज़र', 30 मार्च 2006 को विस्कांसिन विश्वविद्यालय में दिए गए एक व्याख्यान का अप्रकाशित मज़मून।

2 उपरोक्त।

3 ओरसीनी, फ़्रंचेस्का, "डिटेक्टिव नॉवल्सः ए कमर्शियल ज्यां इन नाइनटिंथ सेंचुरी" ब्लैकबर्न एवं डालमिया (संपा.) *इन्डियाज़ लिटरेरी हिस्ट्रीः एस्सेज़ ऑन द नाइनटिंथ सेंचुरी* से, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली 2004, पृ. 451

4 वही, पृ. 477

5 मासिक हिन्दी *दरोगा दफ्तर* के अंक 12, वर्ष 1 (दिसबंर 1910) में प्रकाशित इश्तेहार।

6 उपन्यास *मासिक* द्वारा 1904 में प्रकाशित 'चन्द्रावली वा कुलटाकुतूहल (सामाजिक तूफ़ान) उपन्यास' में छपा एक इश्तेहार।

7 उपन्यास बहार ऑफिस, बनारस द्वारा प्रकाशित *भोजपुर की ठगी* में छपा एक इश्तेहार।

8 इस प्रवृत्ति को लगभग समस्त उपलब्ध हिन्दी उपन्यास साहित्य वर्णन में साफ़ तौर से देखा जा सकता है। देखें, मधुरेश, *हिन्दी उपन्यास का विकास*, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998; रामस्वरूप चतुवेदी, *हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास,* लोकभारत, इलाहाबाद 1986; रामचंद्र शुक्ल, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारणी सभा, बनारस, 1965, आदि।

9 सहपाठी मित्रों से बातचीत के आधार पर।

10 इलाहाबाद के मशहूर जासूसी लेखक-प्रकाशक एम एल पाण्डेय की *रंगीला भेदिया* (मई 1953 अंक)में प्रकाशित एक प्रतिक्रिया के आधार पर।

11 देखें, उपरोक्त - मधुरेश, चतुर्वेदी, सिंह, द्विवेदी, शुक्ल आदि

12 राय, गोपाल, *हिन्दी उपन्यास कोष-2*, ग्रन्थ निकेतन, पटना, 1969, पृ. 141-42

13 गहमरी, गोपालराम, *जासूस की बुद्धि*, जासूस, गहमर/बनारस, (दूसरा संस्करण)1931

14 ओरसीनी, फ़्रंचेस्का, द *हिन्दी पब्लिक स्फ़ीयर: लैंग्वेज़ एण्ड लिटरेचर इन दि एज ऑफ़ नैशनलिज़्म 1920-40*, ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 2002, पृ. 104-111

15 वही।

16 प्रिचेट, फ़्रान्सिस, *आफ़्टर वर्ड*, द फ़र्स्ट उर्दू बेस्ट सेलर, टू द *ब्राइड्स मिरर: अ टेल ऑफ़ लाइफ़ इन डेल्ही अ हन्ड्रेड इयर्स अगो*', नज़ीर अहमद (अनुवाद: जी ई वार्ड), परमानेन्ट ब्लैक, नयी दिल्ली, 2001, पृ. 204-223

17 वही

18 चतुर्वेदी, रामस्वरूप, *हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती, इलाहाबाद, 1986 (पन्द्रहवाँ संस्करण), 2001, पृ 137

19 राय, आलोक, *हिन्दी नैशनलिज़्म*, ओरियन्ट लांगमैन, दिल्ली, 2001

20 चतुर्वेदी:(1986)2001, पृ 138 पर उद्धृत

21 प्रेमचन्द, "उपन्यास रचना", *माधुरी*, 1,4 अक्टूबर 1922, पृ 358

22 ओरसीनी: 2002, पृ 126 पर उद्धृत

23 राय, आलोक: 2000

24 ओरसीनी: 2002, पृ 167 पर उद्धृत

25 वही

26 चट्टोपाध्याय, सुकुमार (अनु) "जासूसी कहानियाँ: इग्लैण्ड के प्रसिद्ध लेखक सर आर्थर कानन डॉयल की तीन रहस्यपूर्ण कहानियों का अविकल अनुवाद", साहित्य मण्डल, दिल्ली, 1932।

27 उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों और बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षो में बांग्ला साहित्य-समाज में हो रहे बदलावों के लिए देखें: घोष, आनंदिता, "वेलराइज़िंग द 'वल्गर': नेशनलिस्ट एप्रोप्रियशन्स ऑफ़ कोलोक्यूइल बेंगाली ट्रडिशन्स् 1870-1905", द *इन्डियन इकोनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री रिव्यू* में, 37; 2, 2000

28 चट्टोपाध्याय, 1932

29 वही

30 पाण्डेय, रमाशंकर 'विकल' *चन्द्रिका या हीरे का हार: एक जासूसी उपन्यास*, बनारस, (दूसरा संस्करण), 1933

31 वही

32 लक्ष्मी पुस्तकालय प्रकाशन, बनारस सीटी की 'चार आना माला' का 1933 में प्रकाशित एक इश्तेहार।

33 बर्मन ऐंड कम्पनी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित 'रेलवे सीरीज़' का एक इश्तेहार, प्रकाशन वर्ष (?)

34 संपादकीय वक्तव्य, "भीषण रहस्य उर्फ़ नकली हत्यारा", हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा, 1935

35 गोपाल राम गहमरी भी बीसी (गुजराती ढाबा), घोटाला (मामले के लिए एक बम्बइया अभिव्यक्ति) और सेठ (महाराष्ट्रीय संबोधन) आदि, नये शब्दों/आचारों से अपने पाठकों का परिचय इन्हीं पाठों के ज़रिए कराते हैं।